



संत साहित्य का सामाजिक सरोकार: मध्यकालीन भारतीय समाज, समानता, लोकभाषा और मानवीय गरिमा का आलोचनात्मक अध्ययन

अभिषेक यादव

अतिथि सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, डिगबोई महाविद्यालय(स्वायत्त), डिगबोई, तिनसुकिया, असम

ईमेल - avishek1445@gmail.com

DOI : <https://doi.org/10.5281/zenodo.23772631>

ARTICLE DETAILS

Research Paper

Received: 27-08-2026

Accepted: 26-09-2026

Published: 20-10-2026

Keywords:

संत साहित्य; सामाजिक
समानता; जाति-विमर्श;
लोकभाषा; स्त्री-अस्मिता;
भक्ति परंपरा

ABSTRACT

संत साहित्य मध्यकालीन भारतीय भाषाओं में विकसित ऐसी व्यापक काव्य-परंपरा है जिसमें आध्यात्मिक अनुभूति सामाजिक जीवन की असमानताओं, धार्मिक रूढ़ियों और मानवीय गरिमा के प्रश्नों से जुड़ती है। कबीर, रैदास, नामदेव, चोखामेला, तुकाराम, गुरु नानक, मीराबाई और महाराष्ट्र की स्त्री-संत कवयित्रियों की वाणी अलग-अलग ऐतिहासिक परिस्थितियों में जाति-आधारित ऊँच-नीच, कर्मकांड, धार्मिक अहंकार, श्रम के अवमूल्यन तथा स्त्रियों पर सामाजिक नियंत्रण को प्रश्नांकित करती है। इन कवियों ने लोकभाषा, पद, साखी, अभंग, वचन और सामूहिक गायन जैसे माध्यमों द्वारा धार्मिक एवं नैतिक विचार को व्यापक जनसमुदाय तक पहुँचाया। प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य संत साहित्य के सामाजिक सरोकारों का तुलनात्मक और आलोचनात्मक विश्लेषण करना है। अध्ययन गुणात्मक, पाठ-आधारित तथा द्वितीयक स्रोतों पर केंद्रित है; इसमें हिंदी साहित्येतिहास, संत-वाणी के संपादित पाठ और आधुनिक अकादमिक अध्ययनों का उपयोग किया गया है। लेख में बीस उपशीर्षकों के अंतर्गत जाति-विरोध, 'बेगमपुरा' की कल्पना, कबीर की रूढ़ि-आलोचना, श्रम की प्रतिष्ठा, भाषिक लोकतंत्रीकरण, स्त्री-अनुभव, सेवा-संगत, क्षेत्रीय विविधता तथा आधुनिक दलित पुनर्पाठ पर विचार किया गया है। विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि संत साहित्य ने आध्यात्मिक समानता और

Disclaimer: The opinions, interpretations, conclusions, recommendations, analyses, and statements expressed in this research article are solely those of the author(s) and do not reflect the views, policies, or positions of the Publisher, Chief Editor, Editors, Editorial Board, Reviewers, or their affiliated institutions. The author(s) are solely responsible for ensuring the originality, authenticity, and integrity of the manuscript and for ensuring that it is free from plagiarism, AI-generated content, copyright infringement, data falsification, and any other form of academic misconduct.

सामाजिक सम्मान की प्रभावशाली भाषा निर्मित की, परंतु उसकी उपस्थिति को जाति और लैंगिक असमानता के पूर्ण अंत के समान नहीं माना जा सकता। अतः इसकी ऐतिहासिक उपलब्धियों को स्वीकार करते हुए इसकी सीमाओं, क्षेत्रीय भिन्नताओं और बाद के संस्थानीकरण को भी समझना आवश्यक है। संत-वाणी की समकालीन प्रासंगिकता इसी आलोचनात्मक और मानवीय पाठ में निहित है।

1. भूमिका

भारतीय साहित्येतिहास में संत साहित्य का महत्व इस कारण है कि यहाँ भक्ति केवल निजी आध्यात्मिक अनुभव नहीं रहती; वह सामाजिक व्यवहार, ज्ञान के अधिकार, जातिगत प्रतिष्ठा और धार्मिक प्राधिकार पर विचार करने का माध्यम भी बनती है। संत कवियों ने मनुष्य और ईश्वर के संबंध को दैनिक जीवन की भाषा में व्यक्त किया। उनकी वाणी में प्रेम, आत्मबोध और करुणा के साथ-साथ बाहरी आडंबर, अहंकार, सामाजिक बहिष्कार और धार्मिक श्रेष्ठताबोध की आलोचना भी दिखाई देती है। इसीलिए संत साहित्य को केवल भक्तिपरक कविता के रूप में नहीं, बल्कि लोक-नैतिकता और सामाजिक आलोचना की परंपरा के रूप में पढ़ना उपयोगी है।

फिर भी 'भक्ति आंदोलन' को पूरे भारत में एकसमान, संगठित और एक ही उद्देश्य से चलने वाली ऐतिहासिक घटना मानना सावधानी के बिना उचित नहीं है। अलग-अलग भाषाओं, क्षेत्रों और संप्रदायों में भक्ति की अभिव्यक्तियाँ भिन्न थीं। कुछ परंपराओं ने निर्गुण ईश्वर और कर्मकांड की आलोचना पर बल दिया, जबकि अन्य में सगुण भक्ति, मंदिर, तीर्थ, सामुदायिक गायन और वैष्णव उपासना महत्वपूर्ण रहे। बताते हैं कि अखिल भारतीय 'भक्ति आंदोलन' की एकीकृत कथा स्वयं ऐतिहासिक रूप से निर्मित विचार है; इसलिए विविध परंपराओं को एक सूत्र में बाँधते समय क्षेत्रीय अंतर मिटा देना उचित नहीं।

हिंदी साहित्येतिहास की आलोचनात्मक परंपरा में भी संत-वाणी को लोकजीवन, वैकल्पिक साहित्यिक परंपरा और सामाजिक चेतना से जोड़कर पढ़ने के प्रयास मिलते हैं। इस अध्ययन का केंद्रीय प्रश्न है कि संत साहित्य ने अपने समय के सामाजिक संबंधों पर किस प्रकार प्रश्न उठाए, उसने किन समुदायों को आत्म-अभिव्यक्ति की भाषा दी और उसकी सामाजिक परिवर्तनकारी क्षमता की सीमाएँ क्या रहीं। लेख संतों को आधुनिक लोकतंत्र या मानवाधिकारों के पूर्ण प्रवक्ता घोषित नहीं करता; इसके बजाय वह उनकी वाणी में उपस्थित समानता, गरिमा, नैतिकता और प्रतिरोध की संभावनाओं को उनके ऐतिहासिक संदर्भों में समझने का प्रयास करता है।

2. अध्ययन के उद्देश्य, प्रश्न और शोध-पद्धति

2.1 अध्ययन के उद्देश्य

संत साहित्य में जाति, श्रम, धर्म, भाषा, स्त्री-अनुभव और सामुदायिकता से जुड़े सामाजिक सरोकारों की पहचान करना।

उत्तर भारत, महाराष्ट्र और अन्य क्षेत्रीय परंपराओं के चयनित संत-कवियों के विचारों का तुलनात्मक विवेचन करना।

संत साहित्य की सामाजिक उपलब्धियों के साथ उसकी ऐतिहासिक सीमाओं और उत्तरवर्ती पुनर्व्याख्याओं को समझना।

समकालीन समाज में संत-वाणी की उपयोगिता को समानता, बहुलता और मानवीय गरिमा के मानकों पर परखना।

2.2 प्रमुख शोध-प्रश्न

संत-वाणी किस प्रकार जन्म-आधारित श्रेष्ठता और धार्मिक आडंबर को चुनौती देती है?

लोकभाषा, गायन और सामुदायिक स्मृति ने संत साहित्य के सामाजिक प्रसार को कैसे प्रभावित किया?

आध्यात्मिक समानता और वास्तविक सामाजिक समानता के बीच क्या अंतर दिखाई देता है?

स्त्री-संतों तथा वंचित जातियों से जुड़े कवियों की उपस्थिति साहित्यिक परंपरा की समझ को किस प्रकार बदलती है?

2.3 शोध-पद्धति और सीमा

यह अध्ययन गुणात्मक, व्याख्यात्मक और तुलनात्मक है। आधार-सामग्री में संत-वाणी के संपादित संस्करण, हिंदी साहित्य के इतिहास-ग्रंथ और संत परंपराओं पर उपलब्ध अकादमिक अध्ययन शामिल हैं। किसी एक संप्रदाय के सभी पदों की पांडुलिपि-आधारित समीक्षा यहाँ संभव नहीं है; इसलिए निष्कर्ष चयनित पाठों और विद्वत् अध्ययनों पर आधारित हैं। संतों के जीवन से जुड़ी अनेक लोकप्रिय कथाएँ बाद की भक्त-स्मृति, मौखिक परंपरा और संप्रदायगत आख्यानों में विकसित हुईं। उन्हें सीधे प्रमाणित इतिहास मानने के बजाय इस लेख में साहित्यिक-सांस्कृतिक स्मृति के रूप में सावधानी से देखा गया है।

3. मुख्य विषय एवं विश्लेषण: बीस उपशीर्षक

3.1 संत साहित्य की अवधारणा और अर्थ

‘संत साहित्य’ किसी एक संस्थान या संप्रदाय की बंद परिभाषा नहीं, बल्कि विविध भाषाओं में रची गई ऐसी वाणी-परंपराओं का सामूहिक नाम है जिनमें आध्यात्मिक अनुभव, नैतिक जीवन और सामाजिक आलोचना परस्पर

संबंधित हैं। 'संत' शब्द से जुड़ी परंपराएँ निर्गुण भक्ति, सगुण प्रेम-भक्ति, गुरु-परंपरा, कीर्तन और लोक-साधना सहित अनेक रूप ग्रहण करती हैं। इसलिए संत साहित्य का अध्ययन किसी एक दर्शन या भाषा तक सीमित नहीं रखा जा सकता

इस साहित्य की पहचान केवल विषय से नहीं, बल्कि उसकी अभिव्यक्ति-पद्धति से भी होती है। साखी, सबद, पद, अभंग और वचन जैसे रूप स्मरण, गायन और संवाद के अनुकूल हैं। संक्षिप्त कथन, व्यंग्य, विरोधाभास और अनुभव-आधारित तर्क इसकी प्रभावशीलता बढ़ाते हैं। साहित्यिक संरचना यहाँ सामाजिक विचार को जनता के बीच पहुँचाने का माध्यम बनती है।

3.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और क्षेत्रीय विविधता

मध्यकालीन दक्षिण एशिया में भक्ति की अनेक क्षेत्रीय परंपराएँ अलग-अलग समय पर विकसित हुईं। तमिल आलवार-नायनार परंपराओं से लेकर कन्नड़ वचन-साहित्य, महाराष्ट्र की वारकरी परंपरा, उत्तर भारत की निर्गुण संत-वाणी और कृष्ण-भक्ति तक, इनके बीच संबंध और भिन्नताएँ दोनों थीं। इन परंपराओं को एक ही समय, संगठन और सामाजिक कार्यक्रम का परिणाम मानना ऐतिहासिक जटिलता को कम कर देता है

ऐतिहासिक परिस्थितियों में स्थानीय राजसत्ता, धार्मिक संस्थाओं, नगरों, व्यवसायों, तीर्थों, भाषिक समुदायों और मौखिक प्रसार की भूमिका रही। अलग क्षेत्रों में संतों की सामाजिक स्थिति तथा उनकी वाणी के अर्थ भी अलग ढंग से ग्रहण किए गए। इसलिए 'भारतीय संत परंपरा' को साझा नैतिक प्रश्नों और स्थानीय विशेषताओं—दोनों को ध्यान में रखकर समझना चाहिए।

3.3 संत-कवियों की सामाजिक पृष्ठभूमि

संत-परंपराओं में बुनकर, चर्मकार, किसान, घरेलू श्रम करने वाली स्त्रियाँ और विभिन्न सामाजिक समूहों से जुड़े व्यक्तियों की स्मृति सुरक्षित है। कबीर को बुनकर समुदाय से और रैदास को चर्मकार समुदाय से जोड़ने वाली परंपराएँ इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं कि वे आध्यात्मिक ज्ञान को उच्च सामाजिक पद से अलग करती हैं। इनके जीवन-वृत्त के हर विवरण की ऐतिहासिक पुष्टि एक जैसी नहीं है, लेकिन इन संतों की सामुदायिक स्मृति स्वयं सामाजिक सम्मान और आत्मप्रतिनिधित्व का स्रोत बनी

इन कवियों की उपस्थिति यह भी दर्शाती है कि साहित्यिक अधिकार केवल दरबारी, शास्त्रीय या औपचारिक शिक्षा प्राप्त समूहों तक सीमित नहीं रहा। फिर भी संतों की विविध सामाजिक पृष्ठभूमियों को एक समान अनुभव मानना गलत होगा। जाति, पेशा, क्षेत्र, लिंग और संप्रदाय ने प्रत्येक कवि की अभिव्यक्ति को अलग-अलग प्रकार से प्रभावित किया।

3.4 जाति-व्यवस्था और जन्म-आधारित श्रेष्ठता का प्रतिरोध

संत साहित्य का प्रमुख सामाजिक सरोकार जन्म के आधार पर मनुष्य के मूल्य का निर्धारण करने वाली सोच पर प्रश्न उठाना है। कबीर की वाणी धार्मिक चिह्नों, वंश-गौरव और बाहरी शुद्धता को नैतिक सत्य का पर्याप्त प्रमाण नहीं मानती। रैदास की परंपरा जन्म और पेशे से जुड़ी सामाजिक हीनता के विरुद्ध आत्मसम्मान की स्पष्ट भाषा देती है। इन दोनों की वाणी पाठक को पृष्ठ करने के लिए प्रेरित करती है कि यदि साधना और नैतिकता मनुष्य के भीतर विकसित होती हैं, तो सामाजिक सम्मान जन्म से क्यों तय हो

इस प्रतिरोध का अर्थ यह नहीं कि सभी संतों ने आधुनिक अर्थ में जाति-उन्मूलन का व्यवस्थित राजनीतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया। उनके कथनों की व्याख्या और उनका सामाजिक प्रभाव समय तथा समुदाय के अनुसार बदलता रहा। आधुनिक आलोचना के लिए आवश्यक है कि जाति-विरोधी स्वर की शक्ति को पहचाना जाए, पर यह दावा न किया जाए कि केवल भक्ति ने जातिगत संस्थाओं को समाप्त कर दिया

3.5 रैदास की 'बेगमपुरा' और समानता का स्वप्न

रैदास से संबद्ध 'बेगमपुरा' की कल्पना संत साहित्य में सामाजिक सरोकार का विशेष उदाहरण है। इसे ऐसे नगर या समुदाय की कल्पना के रूप में पढ़ा जाता है जहाँ भय, अपमान, अनावश्यक कर-भार और सामाजिक असुरक्षा का वर्चस्व न हो। इस पद की शक्ति इस बात में है कि मुक्ति का विचार केवल मृत्यु के बाद मिलने वाले आध्यात्मिक फल तक सीमित नहीं रहता; वह इस संसार में सम्मानपूर्ण जीवन की आकांक्षा भी व्यक्त करता है

'बेगमपुरा' को आधुनिक कल्याणकारी राज्य या किसी पूर्ण राजनीतिक घोषणापत्र के समान मानना अनैतिहासिक होगा। फिर भी इसकी कल्पनात्मक क्षमता महत्वपूर्ण है: जिस व्यक्ति को सामाजिक व्यवस्था ने हाशिये पर रखा, उसकी वाणी एक ऐसे स्थान की कल्पना करती है जहाँ अपमान जीवन का नियति-निर्धारित हिस्सा नहीं है। समकालीन दलित चेतना में रैदास की स्मृति और उनसे जुड़ी संस्थाएँ सामाजिक पहचान और आत्मसम्मान के निर्माण में सक्रिय भूमिका निभाती हैं

3.6 कबीर की सामाजिक आलोचना और निर्भीक वाणी

कबीर की काव्य-दृष्टि का एक प्रमुख गुण है—सीधी, व्यंग्यपूर्ण और कभी-कभी जान-बूझकर चौंकाने वाली भाषा। उनकी साखियाँ और सबद धार्मिक प्रदर्शन, रूढ़ि और आत्ममोह पर प्रहार करते हैं। वे प्रश्न उठाते हैं कि क्या बाहरी अनुष्ठान स्वयं किसी व्यक्ति को सत्यनिष्ठ बना देता है। इस तरह धार्मिक जीवन का मूल्यांकन आडंबर की मात्रा से नहीं, बल्कि विवेक, आचरण और आत्मबोध से किया जाता है कबीर की भाषा शास्त्रीय बहस की बजाय ऐसे कथन-रूप चुनती है जिन्हें सुनने वाला व्यक्ति याद रख सके और अपने अनुभव से जोड़ सके। उनकी वाणी की कठोरता को केवल

नकारात्मकता कहना उचित नहीं; व्यंग्य का उद्देश्य श्रोता को उसके अपने पूर्वग्रहों से सामना कराना भी है। लेकिन कबीर के नाम से प्रचलित पदों के कई पाठांतर हैं; इसलिए उद्धरण या पाठ-विश्लेषण करते समय विश्वसनीय संपादित संस्करण का उल्लेख आवश्यक है।

3.7 धार्मिक पहचान, संवाद और सहिष्णुता

कबीर की वाणी में हिंदू और मुस्लिम, दोनों समुदायों के कर्मकांड और धार्मिक अहंकार पर आलोचनात्मक दृष्टि दिखाई देती है। इसका आशय सभी धार्मिक विश्वासों को समान मान लेना नहीं, बल्कि किसी समूह के बाहरी चिह्नों को नैतिक श्रेष्ठता का अंतिम प्रमाण न मानना है। संत परंपराओं के सामाजिक प्रभाव को हिंदू-मुस्लिम संबंधों के एक सरल, सदैव सौहार्दपूर्ण आख्यान में बदलना भी ठीक नहीं; संपर्क, विवाद, साझी भाषिक संस्कृति और प्रतिस्पर्धा साथ-साथ मौजूद रहे संत-साहित्य का संवादपरक पक्ष आज इसलिए महत्वपूर्ण है कि वह धार्मिक पहचान को नैतिक प्रश्नों से ऊपर नहीं रखता। उसके अनुसार किसी व्यक्ति की धार्मिक पहचान से अधिक महत्वपूर्ण यह है कि उसका व्यवहार न्याय, करुणा और सत्य के प्रति कैसा है। इस दृष्टि का उपयोग वर्तमान समाज में संवाद बढ़ाने के लिए किया जा सकता है, बशर्ते संतों की विविध धारणाओं को एक ही मत में न समेटा जाए।

3.8 कर्मकांड की आलोचना और आंतरिक नैतिकता

संत-कवियों की आलोचना मुख्यतः उस धार्मिक व्यवहार पर केंद्रित है जिसमें कर्मकांड स्वयं उद्देश्य बन जाता है और नैतिक जीवन पीछे छूट जाता है। कबीर की उलटबाँसी, व्यंग्य और प्रत्यक्ष प्रश्न व्यक्ति को दिखावे तथा आत्मप्रवंचना से सावधान करते हैं। इस आलोचना को धर्म-विरोध नहीं समझना चाहिए; संत-वाणी में प्रेम, गुरु, ईश्वर-स्मरण और साधना का महत्व बना रहता है। प्रश्न यह है कि क्या साधना व्यक्ति के आचरण को अधिक संवेदनशील बनाती है या केवल सामाजिक प्रतिष्ठा का साधन बनती है

नैतिकता पर यह जोर सामाजिक जीवन को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित कर सकता है। यदि मनुष्य की धार्मिकता का मूल्यांकन करुणा, ईमानदारी और दूसरों के प्रति व्यवहार से किया जाए, तो धार्मिक अधिकार का दावा करने वाले व्यक्ति भी आलोचना से परे नहीं रहते। इसीलिए संत साहित्य की आध्यात्मिकता में आत्म-समीक्षा का तत्व सामाजिक रूप से महत्वपूर्ण है।

3.9 श्रम, पेशा और मानवीय गरिमा

संतों की परंपरागत जीवन-कथाएँ श्रम और भक्ति के संबंध को उजागर करती हैं। बुनाई, चमड़े के काम, खेती, घरेलू सेवा या अन्य दैनिक गतिविधियों से जुड़ी पहचान यह बताती है कि आध्यात्मिक अनुभव को श्रम से अलग नहीं किया जा सकता। कबीर और रैदास की स्मृति विशेष रूप से उन सामाजिक धारणाओं को चुनौती देती है जिनमें कुछ पेशों को

जन्म से हीन माना जाता रहा। इस अर्थ में संत साहित्य श्रमशील मनुष्य के सम्मान के लिए सांस्कृतिक भाषा उपलब्ध कराता है

फिर भी आधुनिक श्रम-अधिकार, उचित वेतन, सुरक्षा और आर्थिक पुनर्वितरण जैसी अवधारणाएँ संत साहित्य में उसी रूप में व्यवस्थित नहीं हैं। श्रम की नैतिक प्रतिष्ठा को वास्तविक आर्थिक समानता के बराबर मानना उचित नहीं होगा। संत साहित्य का योगदान यह है कि वह व्यक्ति के नैतिक मूल्य को पेशे की सामाजिक प्रतिष्ठा से अलग करता है; सामाजिक नीति और संस्थागत बदलाव के प्रश्न इससे आगे जाते हैं।

3.10 लोकभाषा और ज्ञान का लोकतंत्रीकरण

संत साहित्य ने जनभाषाओं को गंभीर धार्मिक, नैतिक और सामाजिक विचार का माध्यम बनाया। साखी, सबद, पद, अभंग और वचन जैसी रचनाएँ सामान्य जन की बोलचाल से निकटता रखती हैं और गायन के माध्यम से याद की जा सकती हैं। इससे ज्ञान का प्रसार केवल संस्कृत या फ़ारसी जैसी प्रतिष्ठित भाषाओं के पाठक-वर्ग तक सीमित नहीं रहा। लोकभाषा का चयन इस अर्थ में सांस्कृतिक और सामाजिक महत्त्व रखता है कि अनुभव तथा विवेक को औपचारिक विद्वत्ता से परे भी स्थान मिलता है

भाषिक सरलता को विचारों की सरलता नहीं समझना चाहिए। संतों की रचनाओं में प्रतीक, विरोधाभास, योग-संबंधी संकेत और दार्शनिक जटिलता भी मिलती है। उनकी भाषा स्थानीय अनुभवों को गहरे प्रश्नों से जोड़ती है। साथ ही, लोकभाषाओं के अलग-अलग पाठ और उच्चारण इस बात की याद दिलाते हैं कि संत साहित्य केवल स्थिर लिखित ग्रंथ नहीं, बल्कि जीवित भाषिक व्यवहार भी रहा है।

3.11 मौखिक परंपरा, संगीत और सामुदायिक सहभागिता

संत-वाणी का प्रसार पुस्तकों के अतिरिक्त गायन, कीर्तन, सत्संग, कथा और स्मृति से हुआ। किसी पद को सामूहिक रूप से गाने से श्रोता केवल पाठ ग्रहण नहीं करता, बल्कि एक समुदाय के भावात्मक अनुभव में भाग लेता है। यह सामूहिकता जाति और लिंग की बाधाओं को हर जगह समाप्त नहीं करती थी, पर कुछ प्रसंगों में साझा श्रवण और गायन ने धार्मिक भागीदारी के नए अवसर प्रदान किए मौखिकता की वजह से संत-पदों में पाठांतर, स्थानीय धुनों तथा व्याख्याओं की बहुलता विकसित हुई। यह विविधता अनुसंधान के लिए चुनौती भी है और परंपरा की जीवंतता का प्रमाण भी। किसी लोकप्रिय पद को बिना पाठ-आधार के संत का निर्विवाद मूल कथन घोषित करना सावधानी के विरुद्ध है। बेहतर तरीका यह है कि रचनाओं के प्रचलित रूप, उपलब्ध संपादन और सामुदायिक ग्रहण—इन तीनों में अंतर रखा जाए।

3.12 स्त्री-अनुभव और मीराबाई की स्वायत्तता

मीराबाई की काव्य-परंपरा में निजी भक्ति और सामाजिक अपेक्षाओं के बीच तनाव दिखाई देता है। उनकी कविताओं की वक्ता अपने आराध्य के प्रति निष्ठा को सार्वजनिक रूप से व्यक्त करती है और इस प्रकार स्त्री के लिए निर्धारित घरेलू तथा वैवाहिक भूमिकाओं से परे एक वैकल्पिक आत्म-पहचान रचती है। इस आवाज़ को स्त्री की आध्यात्मिक स्वायत्तता और आत्म-अभिव्यक्ति के रूप में पढ़ा जा सकता है, हालांकि मीराबाई से जुड़ी जीवन-कथाओं के अनेक विवरण भक्तिकालीन और उत्तरवर्ती स्मृति से निर्मित हैं मीराबाई को आधुनिक नारीवादी विचारों की पूर्ण प्रतिनिधि घोषित करने के बजाय यह देखना अधिक सटीक है कि उनकी कविता स्त्री-इच्छा, निष्ठा और आत्म-चयन को साहित्यिक आवाज़ देती है। स्त्री-संत की वाणी यह प्रश्न सामने लाती है कि क्या सामाजिक प्रतिष्ठा और पारिवारिक आज्ञाकारिता ही स्त्री जीवन का अंतिम मानक हैं। उनकी परंपरा आज भी इस प्रश्न पर विचार करने का अवसर देती है कि धार्मिक अनुभव व्यक्ति को निर्धारित सामाजिक भूमिका से बाहर जाने की भाषा कैसे दे सकता है।

3.13 जनाबाई, बहिणाबाई और घरेलू श्रम का अनुभव

महाराष्ट्र की संत-कवयित्रियों—विशेषकर जनाबाई और बहिणाबाई—की रचनात्मक स्मृति संत साहित्य के सामाजिक सरोकारों में घरेलू श्रम, सेवा और स्त्री के दैनंदिन अनुभव को स्थान देती है। उनकी परंपराओं में रसोई, सफाई, परिवार और कामकाज जैसे क्षेत्र केवल निजी जीवन के विषय नहीं रह जाते; वे भक्ति और आत्म-अभिव्यक्ति के अर्थपूर्ण स्थल बनते हैं। महाराष्ट्र की स्त्री-संतों की विशिष्ट स्थिति पर बल देती हैं, जहाँ अनेक कवयित्रियों ने घरेलू संबंधों के भीतर रहते हुए भी अपने आध्यात्मिक अनुभव को आवाज़ दी।

यह परंपरा उस धारणा को चुनौती देती है कि साहित्यिक या आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए दैनिक श्रम से अलग होना अनिवार्य है। फिर भी संत-कवयित्रियों की सामाजिक स्थितियाँ एक जैसी नहीं थीं; कुछ परंपराओं में स्त्री की आध्यात्मिक स्वतंत्रता के लिए घर छोड़ना या घरेलू नियंत्रण से संघर्ष करना केंद्रीय कथा बना। इसलिए स्त्री-संतों के अनुभव को एक सार्वभौमिक नारी-अनुभव में समेटने के बजाय उनके विशिष्ट ऐतिहासिक और क्षेत्रीय प्रसंगों को सामने रखना चाहिए।

3.14 गुरु नानक: सेवा, संगत और पंगत

गुरु नानक की वाणी और उनसे संबद्ध सिख परंपरा में नाम-स्मरण, नैतिक आजीविका, सेवा और सामूहिकता के सिद्धांत महत्वपूर्ण हैं। संगत और पंगत की प्रथाएँ आध्यात्मिक समुदाय तथा साझा भोजन को सामाजिक व्यवहार से जोड़ती हैं। साझा भोजन विशेष रूप से इसलिए अर्थपूर्ण है कि भोजन-संबंधी नियम कई समाजों में शुद्धता, दूरी और सामाजिक पदानुक्रम को व्यक्त करते रहे हैं। फिर भी किसी आदर्श की उपस्थिति और हर ऐतिहासिक परिस्थिति में उसका पूर्ण क्रियान्वयन अलग प्रश्न है गुरु नानक की परंपरा का सामाजिक पाठ सेवा को दया के एकतरफा प्रदर्शन से आगे ले जाकर सामुदायिक जिम्मेदारी के रूप में समझने का अवसर देता है। साझा श्रम और भोजन की परंपराएँ

समान भागीदारी की संभावना प्रस्तुत करती हैं। इन आदर्शों का मूल्यांकन करते समय धार्मिक परंपरा के अपने अर्थों का सम्मान करते हुए यह भी देखना चाहिए कि संस्थाओं और समुदायों में समानता के सिद्धांत व्यवहार में किस हद तक लागू होते हैं।

3.15 महाराष्ट्र की वारकरी परंपरा: नामदेव, चोखामेला और तुकाराम

महाराष्ट्र की वारकरी परंपरा में नामदेव, चोखामेला और तुकाराम के अभंग भक्ति को लोकभाषा, कीर्तन और सामुदायिक अनुभव से जोड़ते हैं। चोखामेला की स्मृति विशेष रूप से जाति-आधारित बहिष्कार और मंदिर-प्रवेश से संबंधित असमानताओं की चर्चा में महत्वपूर्ण है। नामदेव और तुकाराम की रचनाएँ भक्ति, नैतिक आत्मालोचना और समुदाय की भूमिका पर ध्यान केंद्रित करती हैं। महाराष्ट्र के संदर्भ से स्पष्ट होता है कि सामाजिक सरोकारों को केवल उत्तर भारतीय निर्गुण परंपरा से नहीं समझा जा सकता

वारकरी परंपरा की सामुदायिकता को जाति से पूरी तरह मुक्त व्यवस्था का प्रमाण मानना सरल निष्कर्ष होगा। साझा तीर्थयात्रा और कीर्तन ने भागीदारी के अवसर बनाए, पर जातिगत संबंधों के बने रहने और बाद की व्याख्याओं में समानता के अर्थ को लेकर विवाद भी रहे। यही जटिलता संत साहित्य को आलोचनात्मक ढंग से पढ़ने के लिए प्रेरित करती है।

3.16 क्षेत्रीय भाषाएँ और सांस्कृतिक विविधता

संत साहित्य हिंदी, पंजाबी, मराठी, कन्नड़, तमिल और अन्य भाषिक परंपराओं में अलग-अलग रूप ग्रहण करता है। किसी क्षेत्र में निर्गुण ईश्वर का विचार प्रमुख हो सकता है, तो दूसरे में सगुण देवता के प्रति प्रेम, मंदिर-आधारित अनुष्ठान या सामुदायिक तीर्थयात्रा अधिक महत्वपूर्ण हो सकती है। भिन्नता के बावजूद इन परंपराओं में व्यक्तिगत अनुभव, भक्ति की पहुंच और नैतिक जीवन की चर्चा जैसे साझा सूत्र मिलते हैं

अखिल भारतीय संत-परंपरा का अध्ययन तभी संतुलित होगा जब उत्तर भारत की साहित्यिक विरासत को पूरे उपमहाद्वीप का मानक न मान लिया जाए। भाषिक विविधता केवल अभिव्यक्ति के साधन की विविधता नहीं है; वह धार्मिक विचारों, सामाजिक स्मृतियों और समुदायों की आत्म-छवि को भी प्रभावित करती है। क्षेत्रीय दृष्टि सामाजिक सरोकारों की एकाधिक व्याख्याओं को सामने लाती है।

3.17 संत-परंपरा का संस्थानीकरण और सामाजिक स्मृति

समय के साथ अनेक संतों की वाणी पंथों, मठों, डेरों, गुरुद्वारों, तीर्थों, उत्सवों और संकलनों से जुड़ी। संस्थानीकरण ने रचनाओं को सुरक्षित रखने, गायन की परंपराओं को आगे बढ़ाने और समुदायों को संगठित करने में योगदान दिया।

इसके साथ यह संभावना भी बनी कि मूल वाणी के कुछ आलोचनात्मक पक्षों को कम महत्व दिया जाए या संत की छवि को किसी संप्रदाय की पहचान के अनुकूल ढाला जाए। कबीर-पंथ और रैदास-परंपरा पर हुए अध्ययन इस बहुस्तरीय प्रक्रिया को समझने में उपयोगी हैं सामाजिक स्मृति स्थिर नहीं रहती; प्रत्येक पीढ़ी संतों को अपने प्रश्नों और आवश्यकताओं के अनुसार पढ़ती है। इससे उनकी वाणी वर्तमान समुदायों के लिए अर्थपूर्ण बनी रहती है, लेकिन ऐतिहासिक संत और आज के संत-प्रतिरूप में अंतर करना भी आवश्यक होता है। किसी परंपरा का सम्मान करने का अर्थ उसकी आलोचनात्मक क्षमता को निष्क्रिय कर देना नहीं है।

3.18 सामाजिक उपलब्धियाँ और परिवर्तन की संभावनाएँ

संत साहित्य की प्रमुख उपलब्धि यह है कि उसने मानवीय गरिमा को वंश, पेशे और बाहरी धार्मिक चिहनों से स्वतंत्र मानने की नैतिक भाषा विकसित की। दूसरी उपलब्धि लोकभाषाओं में दार्शनिक तथा सामाजिक विचार की अभिव्यक्ति है। तीसरी उपलब्धि ऐसी स्त्री और वंचित समुदायों की साहित्यिक आवाज़ों का संरक्षण है जिन्हें अन्यथा प्रभुत्वशाली इतिहासों में कम स्थान मिलता। रैदास से जुड़ी आधुनिक सामुदायिक पहचान तथा संत-कविताओं का निरंतर गायन दिखाता है कि इन रचनाओं की सामाजिक अर्थवत्ता मध्यकाल तक सीमित नहीं रही

इन उपलब्धियों को सीधा कारण-परिणाम संबंध मानकर यह कहना कठिन है कि संत-वाणी ने अकेले सामाजिक संरचनाओं को बदल दिया। साहित्य, धार्मिक व्यवहार, सामुदायिक संगठन और राजनीतिक-सामाजिक आंदोलनों के संबंध जटिल रहे। संत साहित्य को सामाजिक परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक संसाधन कहना अधिक सावधान निष्कर्ष है।

3.19 सीमाएँ: आध्यात्मिक समानता बनाम सामाजिक समानता

संत साहित्य का आलोचनात्मक मूल्यांकन करते समय यह भेद केंद्रीय है कि ईश्वर के सामने समानता का विचार और समाज में समान अधिकार एक ही चीज़ नहीं हैं। कोई परंपरा आध्यात्मिक स्तर पर सभी मनुष्यों को महत्व दे सकती है, जबकि विवाह, भोजन, संसाधनों, शिक्षा या सार्वजनिक स्थानों में बराबरी सीमित रह सकती है। बताते हैं कि भक्ति और जाति का प्रश्न सरल 'पूर्ण परिवर्तन' या 'पूर्ण विफलता' के निष्कर्ष से नहीं समझा जा सकता; धार्मिक विचार, सामाजिक व्यवहार और ऐतिहासिक परिस्थितियों के बीच तनाव को पढ़ना आवश्यक है।

दूसरी सीमा यह है कि संत-कवियों ने आधुनिक राजनीतिक अधिकारों, कानून, सार्वजनिक नीति या संगठित आर्थिक पुनर्वितरण का विस्तृत कार्यक्रम प्रस्तुत नहीं किया। उनकी वाणी में सामाजिक प्रतिरोध और नैतिक समानता के तत्व हैं, लेकिन आधुनिक लोकतंत्र की अवधारणाएँ उसी रूप में आरोपित नहीं की जानी चाहिए। तीसरी सीमा स्रोतों की है: जीवनियों, संकलनों और लोकप्रिय उद्धरणों की ऐतिहासिक विश्वसनीयता एक जैसी नहीं होती। आलोचनात्मक

अध्ययन का उद्देश्य संत साहित्य का अवमूल्यन करना नहीं, बल्कि उसकी वास्तविक उपलब्धियों और सीमाओं दोनों को सामने रखना है।

3.20 आधुनिक भारत में संत साहित्य की प्रासंगिकता

आज के भारत में जाति-आधारित भेदभाव, धार्मिक धुवीकरण, भाषिक-सांस्कृतिक वर्चस्व और स्त्री की स्वायत्तता से जुड़े प्रश्न अब भी प्रासंगिक हैं। संत-वाणी व्यक्ति के सम्मान को जन्म और समूह-पहचान से ऊपर रखने, धार्मिक दावों को नैतिक कसौटी पर परखने तथा स्थानीय भाषा और अनुभव को ज्ञान का वैध स्रोत मानने की प्रेरणा देती है। रैदास की 'बेगमपुरा' की कल्पना, कबीर की रूढ़ि-आलोचना और स्त्री-संतों की आत्म-अभिव्यक्ति समकालीन समानता-विमर्श से संवाद कर सकती हैं इस प्रासंगिकता को तभी सार्थक कहा जा सकता है जब संतों को केवल उत्सव, स्मारक या चयनित उद्धरणों तक सीमित न किया जाए। उनकी वाणी का वास्तविक सामाजिक पाठ तब होगा जब शिक्षण, सार्वजनिक संवाद और दैनिक व्यवहार में सम्मान, सहिष्णुता तथा समान भागीदारी को महत्व दिया जाए। संत साहित्य वर्तमान संविधान, सामाजिक आंदोलनों या संस्थागत सुधारों का विकल्प नहीं है; वह इनके साथ संवाद करने वाली नैतिक-सांस्कृतिक परंपरा है।

4. तुलनात्मक सारणी

तालिका 1 में चुने हुए संतों और परंपराओं के प्रमुख सामाजिक सरोकारों का संक्षिप्त तुलनात्मक संकेत दिया गया है। इसे प्रत्येक संत की संपूर्ण विचारधारा या पूरे ऐतिहासिक समुदाय का अंतिम निष्कर्ष नहीं समझना चाहिए।

संत / परंपरा	मुख्य सामाजिक सरोकार	साहित्यिक-सांस्कृतिक योगदान
कबीर	जातिगत अहंकार, धार्मिक आडंबर, आत्मालोचना	साखी, सबद, व्यंग्य और संवादपरक भाषा
रैदास	अस्पृश्यता, सामाजिक अपमान, गरिमापूर्ण जीवन	'बेगमपुरा' जैसी समानतामूलक कल्पना
नामदेव / तुकाराम	समुदाय, नैतिकता, भक्ति में भागीदारी	मराठी अभंग, कीर्तन और वारकरी परंपरा

संत / परंपरा	मुख्य सामाजिक सरोकार	साहित्यिक-सांस्कृतिक योगदान
चोखामेला	जाति-आधारित बहिष्कार और सामाजिक दूरी	वंचित अनुभव की साहित्यिक-सामुदायिक स्मृति
मीराबाई / जनाबाई	स्त्री की इच्छा, घरेलू भूमिकाएँ, आत्म-अभिव्यक्ति	पद, भक्ति-वाणी और स्त्री अनुभव की अभिव्यक्ति
गुरु नानक	सेवा, नैतिक आजीविका, साझा समुदाय	संगत, पंगत और साझा जिम्मेदारी

5. प्रमुख निष्कर्ष

संत साहित्य को केवल निजी आध्यात्मिक अनुभव तक सीमित नहीं किया जा सकता; उसकी अनेक रचनाएँ सामाजिक प्रतिष्ठा, धार्मिक अधिकार और नैतिक व्यवहार की आलोचना करती हैं।

जाति-विरोधी वाणी और 'बेगमपुरा' जैसी कल्पना सामाजिक सम्मान तथा भयमुक्त जीवन की आकांक्षा व्यक्त करती है।

लोकभाषा, गायन और मौखिक प्रसार ने ज्ञान तथा धार्मिक अनुभव को व्यापक समुदायों तक पहुँचाने में सहायता की।

स्त्री-संतों और वंचित समुदायों से जुड़े कवियों की उपस्थिति साहित्यिक इतिहास में आत्म-अभिव्यक्ति के वैकल्पिक स्रोत उपलब्ध कराती है।

क्षेत्रीय भिन्नताओं को समझे बिना संत साहित्य को एक समरूप अखिल भारतीय आंदोलन के रूप में प्रस्तुत करना उसकी ऐतिहासिक जटिलता को कम करता है।

आध्यात्मिक समानता और व्यवहारगत सामाजिक समानता के बीच दूरी बनी रह सकती है; इसलिए संत साहित्य की उपलब्धियों के साथ उसकी सीमाओं का भी विश्लेषण जरूरी है।

आधुनिक समाज में संत-वाणी की उपयोगिता उसके नाम के सम्मान से अधिक समानता, मानवीय गरिमा, संवाद और भेदभाव-विरोधी आचरण में निहित है।

6. निष्कर्ष

संत साहित्य भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की ऐसी बहुरंगी परंपरा है जहाँ भक्ति का अनुभव समाज, भाषा और नैतिक जीवन के प्रश्नों से गहरे रूप में जुड़ा है। कबीर की निर्भीक रूढ़ि-आलोचना, रैदास की सम्मानपूर्ण समाज की कल्पना, महाराष्ट्र की संत-परंपरा में वंचित अनुभव की अभिव्यक्ति, गुरु नानक की सेवा-संगत की धारणा तथा मीराबाई और जनाबाई की आत्म-अभिव्यक्ति—ये सभी उदाहरण बताते हैं कि संत-वाणी ने धार्मिक अनुभव को लोकजीवन से जोड़ने के अनेक रास्ते निर्मित किए। लोकभाषाओं और सामूहिक गायन ने इन विचारों को याद रखने, बाँटने और नए संदर्भों में पुनः अर्थ देने की क्षमता प्रदान की।

इसके साथ ही संत साहित्य को सामाजिक परिवर्तन की सर्वसमाधानकारी शक्ति मानना उचित नहीं होगा। जातिगत और लैंगिक असमानताएँ भक्ति-परंपराओं के सामाजिक संसारों में अलग-अलग रूपों में बनी रह सकती थीं; आध्यात्मिक समावेशिता स्वतः संस्थागत समानता में नहीं बदलती। संतों की वाणी और उनसे जुड़ी जीवन-कथाओं का अध्ययन करते समय पाठांतर, क्षेत्रीय विविधता तथा बाद की सामुदायिक स्मृति को ध्यान में रखना चाहिए। यही आलोचनात्मक दृष्टि संत साहित्य को न तो अंध-गौरव का विषय बनाती है और न ही उसकी परिवर्तनकारी संभावनाओं को नकारती है।

अंततः संत साहित्य का सामाजिक सरोकार मानवीय गरिमा को केंद्र में रखने, जन्म-आधारित श्रेष्ठता पर प्रश्न उठाने, स्त्री और वंचित समूहों की आवाज़ को सुनने तथा धार्मिक पहचान को नैतिक उत्तरदायित्व से जोड़ने में है। इसकी समकालीन प्रासंगिकता तभी जीवित रहती है जब इन मूल्यों को व्यवहार, शिक्षा और सामाजिक संस्थाओं से जोड़ा जाए।

संदर्भ सूची

1. Callewaert, W. M., & Friedlander, P. G. (1992). *The life and works of Raidas*. Manohar.
2. Hawley, J. S. (2015). *A storm of songs: India and the idea of the Bhakti movement*. Harvard University Press. <https://doi.org/10.4159/9780674425262>
3. Hawley, J. S., & Juergensmeyer, M. (1988). *Songs of the saints of India*. Oxford University Press.
4. Hess, L., & Singh, S. (2002). *The Bijak of Kabir*. Oxford University Press. <https://doi.org/10.1093/0195148762.001.0001>
5. Keune, J. (2021). *Shared devotion, shared food: Equality and the Bhakti-caste question in Western India*. Oxford University Press. <https://doi.org/10.1093/oso/9780197574836.001.0001>
6. Lorenzen, D. N. (1996). *Praises to a formless God: Nirguni texts from North India*. State University of New York Press.



7. McLeod, W. H. (1968). *Guru Nanak and the Sikh religion*. Oxford University Press.
8. Mīrābāī. (1980). *The devotional poems of Mīrābāī* (A. J. Alston, Trans.). Motilal Banarsidass.
9. Narayan, B. (2011). *The making of the Dalit public in North India: Uttar Pradesh, 1950–present*. Oxford University Press. <https://doi.org/10.1093/acprof:oso/9780198071877.001.0001>
10. Novetzke, C. L. (2008). *Religion and public memory: A cultural history of saint Namdev in India*. Columbia University Press.
11. Ram, R. (2008). Ravidass deras and social protest: Making sense of Dalit consciousness in Punjab (India). *The Journal of Asian Studies*, 67(4), 1341–1364. <https://doi.org/10.1017/S0021911808001800>
12. Ramanujan, A. K. (1973). *Speaking of Śiva*. Penguin Books.
13. Schomer, K., & McLeod, W. H. (Eds.). (1987). *The Sants: Studies in a devotional tradition of India*. Motilal Banarsidass.
14. Vaudeville, C. (1993). *A weaver named Kabir: Selected verses with a detailed biographical and historical introduction*. Oxford University Press.
15. Zelliot, E. (1996). *From untouchable to Dalit: Essays on the Ambedkar movement*. Manohar.
16. Zelliot, E. (2000). Women saints in medieval Maharashtra. In M. Bose (Ed.), *Faces of the feminine in ancient, medieval, and modern India* (pp. 192–200). Oxford University Press. <https://doi.org/10.1093/oso/9780195122299.003.0013>
17. द्विवेदी, ह. प्र. (2011). *कबीर*. राजकमल प्रकाशन.
18. शुक्ल, र. (1988). *हिंदी साहित्य का इतिहास*. नागरी प्रचारिणी सभा.
19. सिंह, न. (1982). *दूसरी परम्परा की खोज*. राजकमल प्रकाशन.

सहायक ग्रंथ-सूची

1. निम्नलिखित शीर्षक विषय की व्यापक पृष्ठभूमि, संत-वाणी के पाठ-रूपों तथा भक्ति की ऐतिहासिक विविधता पर आगे अध्ययन के लिए उपयोगी हैं। मुख्य संदर्भ सूची में शामिल स्रोतों से अलग, इन्हें पूरक पठन के रूप में रखा गया है।
2. Kabir. (1915). *One hundred poems of Kabir* (R. Tagore, Trans.). Macmillan.
3. Zelliot, E., & Berntsen, M. (Eds.). (1988). *The experience of Hinduism: Essays on religion in Maharashtra*. State University of New York Press.